# आपने लिखा

**संदर्भ** का अंक-59 मिला।'गुल्लक' ने बचपन की स्मृतियों को जीवन्त कर दिया। कक्षा 4-5 तक की पढ़ाई के दौरान ढोल की आवाज़ सुनकर मैं घर के कोने में छिप जाती थी, जब आवाज़ बहुत दूर चली जाती, तब मैं भी मिट्टी (मृत शरीर) पर लुटाए गए पैसे एकत्र करती थी। हमारे घर के पास लकड़ी की टाल थी, जहाँ हम खेलते थे, वहीं पर मैं उन पैसों को छिपाती थी। रोज़ उन्हीं पैसों से मिठाई, टॉफी, मूँगफली, गुड़ की पट्टी व बुढ़िया के बाल खरीदकर खाती। अक्सर ही मेरी शिकायत होती कि मैं रोज़ इतने पैसों से चीज़ें खरीदकर खाती हूँ। पूछे जाने पर माता-पिता से सच बोल देती थी। कभी पिटाई होती थी तो फिर से ऐसा न करने का वादा करती, पर फिर वही हरकतें.....। अन्ततः एक दिन घर में करीब चार-पाँच घण्टे बन्द किया गया, खाना बन्द, तरह-तरह से समझाया गया, तब बड़ी मुश्किल से सिक्के बटोरने की यह आदत छूटी।

जैसा कि लेख के अन्त में सवाल था कि - गुल्लक के साथ क्या होना चाहिए? मैं सोचती हूँ बच्चों को उनकी इच्छानुसार पैसे खर्च करने की अनुमति देनी चाहिए। बच्चों को समझाना आवश्यक है कि दोबारा ऐसा न करें। शुभ-अशुभ व अन्ध-विश्वास से जकड़े हम सभी को यह पहल करनी चाहिए कि पैसे लुटाने से मृतक की आत्मा को शान्ति नहीं मिलती, यज्ञ-हवन-शान्तिपाठ-प्रार्थना अनावश्यक है। यह पैसा जो अन्ध-विश्वास के तहत लुटाया है किसी शाला-मन्दिर-मदरसे आदि के निर्माण हेतु दान में दिया जाए, यही बेहतर होगा।

सुनीला मसीह
मित्र क. उ. मा. शा. सोहागपुर, होशंगाबाद

**माह** जनवरी-अप्रैल 2008 का अंक आज कुक्षी में पढ़ा, जहाँ वर्तमान में मैं प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना का कार्य देख रहा हूँ। इस अंक में प्रकाशित लेख 'गुल्लक' पढ़कर अपने विचार प्रेषित करने के लिए प्रेरित हुआ हूँ।

हम सभी खासकर सनातन-धर्मी अपने को धार्मिक मान्यताओं से जुड़ा बताते हैं और व्यर्थ के कर्म-काण्डों में ज़्यादा उलझे रहते हैं जिनका धर्म में कहीं उल्लेख नहीं है। मुर्दे के ऊपर से धन फेंकना भी ऐसा ही एक कर्म-काण्ड है। जीवन भर कुछ किया नहीं और अन्त में उसके ऊपर थोड़ी चिल्लर फेंककर मृतक के ऋण से ऋण-मुक्त होना चाहते हैं या अपना प्रेम प्रकट करना चाहते हैं। इस धन को अपवित्र क्यों माना जाए, यह समझ से परे है। एक घटना को दूसरी बात से व्यर्थ जोड़ना। चेतन शरीर छूटना एक बात है और शेष निरर्थक मृत शरीर की अन्तिम क्रिया करना दूसरी। इसमें पवित्रता-अपवित्रता जोड़ना ही अनुचित है।

बच्चे अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण कर, जो धन वे खर्च कर सकते थे और माता-पिता कुछ नहीं कर पाते, उसकी बचत के लिए प्रेरित हुए, यह गुण अति प्रशंसा के योग्य है। बच्चों को पुरस्कार दिया जाना चाहिए था। उस धन से यदि माता-पिता को अपने संस्कार या धारणा के कारण अपवित्रता का बोध होता है तो उसे दो- चार बूँद गंगाजल से धोने की सलाह दे देनी चाहिए थी। मित्र का चुपचाप लौटना भी अनुचित है। उसे अपने मित्र की समझ (अन्धविश्वास) तोड़ने का प्रयत्न ठीक प्रकार से करना चाहिए था। गंगाजल से धोना कोई चमत्कारी बात नहीं है पर मन में गहरी बैठ चुकी धारणा से सरलता

से उबरने का उपाय है। सभी सन्तुष्ट होते और बच्चे वास्तव में प्रसन्नता से अच्छी दिशा में बढ़ने के लिए प्रेरित होते।

यूक्लिडीय ज्यामिति सम्बन्धी लेख बहुत रोचक और कठिन विषय की सरल प्रस्तुति है। ज्यामिति सम्बन्धी ज्ञान बहुत बढ़ा है और हमारे शैक्षणिक काल में गणित भी विषय था परन्तु इस बाबत जानकारी लगभग शून्य-सी ही थी। ज्ञानवर्धन हेतु धन्यवाद।

चन्द्रमा और सूर्य का आकार एक-सा दिखना संयोग कहा गया है। अवश्य होगा भी क्योंकि विषय के विद्वान ने जानकारी दी है। पर मेरी दृष्टि में यह भी दूरी और व्यास के कारण ही है। समानुपातिक रूप से दोनों के द्वारा दृष्टिपटल पर एक जैसा ही कोण बनाया जाता है, उसी का परिणाम होना चाहिए। मात्र संयोग नहीं। हमसे दोनों की दूरियाँ और व्यास ज़रूर संयोग हो सकते हैं।

अन्य सभी लेख भी बहुत सुन्दर, रोचक, ज्ञान वर्धक हैं। संदर्भ में उत्कृष्ट सामग्री सदैव रहती है। हाँ, ऑक्सीजन मापने वाला लेख स्पष्ट नहीं है। ऐसी विधियाँ बताई गई हैं जो कभी भी पूर्ण रूप से निश्चित माप देंगी, यह शंकास्पद है और बहुत-से तथ्य भी वादविवाद में आ सकते हैं। वैसे भी यह तरीका बहुत समय खपाने वाला होगा।

आशा करता हूँ कि आगामी अंक समय पर प्राप्त होते रहेंगे।

ओम प्रकाश मिश्रा
म.प्र.ग्रा.स.वि. प्राधिकरण कुक्षी, धार (म.प्र.)

## कुछ दिल की, कुछ दुनिया की

ज्यों-ज्यों अध्यापन कार्य में समय बीत रहा है, मेरा मौजूदा शिक्षा व्यवस्था से मोहभंग होता जा रहा है। मैं कई स्थानों पर स्वयं को अत्यन्त असहाय पाता हूँ। यूँ तो बड़े-बड़े आदर्श शिक्षा के नाम पर गढ़े गए हैं परन्तु व्यवहार में आकर सब बच्चे व अध्यापक दोनों के शोषण का औज़ार बने हुए हैं। हालाँकि मैं स्वयं ऐसे कई आदर्श लेकर शिक्षा के क्षेत्र में आया जो घोषित तौर पर शिक्षा प्रणाली के भी आदर्श थे। परन्तु जब कहीं पर भी उन आदर्शों का सतांश लागू होते नहीं दिखता तो अत्यन्त निराशा होती है।

मैं स्वयं ऐसे माहौल में पढ़ा हूँ जहाँ पिटाई और रटन्तू माहौल बिलकुल नहीं था जिससे मेरा इन पर विश्वास भी नहीं है। हालाँकि पिटाई होती थी परन्तु उससे मुझे शिक्षार्थी जीवन से ही नफरत है। लेकिन देखता हूँ कि सर्वत्र दोहरे मापदण्ड अपनाए जाते हैं। विद्यालय में पिटाई की बात बच्चा घर में बताए तो उसे बच्चे का अपराध समझा जाता है। हद तो तब होती है जब स्वयं अभिभावक आकर बच्चे को पीटने और डाँटने की बात कर जाते हैं। अब मैं स्वयं इस विषय पर अधिक नहीं सोचता क्योंकि अपने विद्यालय में भी रोज़-रोज़ यही होता देखकर मैं इस स्थिति का आदी हो चुका हूँ।

पहले-पहल विरोध करता था अब समझता हूँ कि अध्यापक का स्वयं का विवेक अगर इजाज़त देता है तो मैं क्या कर सकता हूँ।

यह तो प्रत्यक्ष सज़ा और प्रत्यक्ष शोषण हुआ। उपदेशों द्वारा, ताने कसकर, मज़ाक बनाकर और अलिखित रूप से बिगड़ैल घोषित कर मानसिक सन्ताप देना तो इतना अधिक है कि लगता है पढ़ाना-लिखाना इसे ही कहते हैं। अधिकांश अध्यापक बच्चों के साथ बनावटी बर्ताव करते हैं, पर उनमें से अधिकांश बच्चों से और उनकी क्रियाशीलता से नफरत करते हैं। और विद्यालयों में उन्हें हमेशा यही उपदेश पिलाते रहते हैं कि हम जो कुछ करते हैं उससे उनका (बच्चों का) ही भला है। और उन्हें अपने साथ हुए बुरे बर्ताव को गलत न मानकर सही मानना चाहिए अर्थात् बच्चे अपने मनमाफिक व्यवहार करें तो वह सदैव गलत और शिक्षक बनावटी/झूठा व्यवहार करें तो वह सही। यही शिक्षा प्रणाली का व्यवहारिक पक्ष बनकर रह गया है।

मुझे द्रोणाचार्य जैसे गुरु का प्रसंग सदैव सुनाई देता है और एकलव्य की गुरुभक्ति की सराहना की जाती है। जिस देश की शिक्षा व्यवस्था में गुरुओं का ऐसा वर्गीय चरित्र हो वहाँ की परम्परा में शिक्षकों का विद्यार्थियों से दोगला व्यवहार असम्भव नहीं है। मुझे लगता है शिक्षा की बहुत बड़ी कमी यही हो गई है कि शिक्षक ज़बरदस्ती स्वयं को सब कुछ सिखा सकने के अधिकारी मान बैठे हैं जो कि वे नहीं हैं। वे तो मात्र व्यवहारिक रूप से बच्चों से घुलमिलकर उनकी सीखने की प्रक्रिया को बढ़ाकर उसको प्रभावित कर सकते हैं। परम्परावादी शिक्षक आज भी वही गुरु-शिष्य परम्परा की दुहाई देते हैं। पर बता नहीं सकते कि वह क्या थी। क्या पहले भी अधिकार केवल गुरु के और कर्तव्य केवल शिष्य के ही थे, या कि इसके उलट भी कुछ था?

मैं समझता हूँ अधिकांश विद्यालय बच्चों को मानसिक रूप से बीमार कर रहे हैं। मैं देखता हूँ इतना सारा कक्षा कार्य और बाद में ढेरों गृह कार्य। क्या शिक्षा व्यवस्था यही है कि बस कॉपियाँ भरो और अपनी रुचियों को अनदेखा करो।

'कला' को अधिकांश विद्यालयों में पाठ्यक्रम से हटा दिया गया है, या कि वैकल्पिक रूप में रखा गया है, परन्तु अधिकांश विद्यालयों में कलाशिक्षक नहीं हैं या जो हैं वे भी परम्परागत/रूढ़िवादी सोच के हैं। क्या भविष्य केवल गणित/विज्ञान/अँग्रेज़ी और सामान्य ज्ञान जैसे विषयों का है? ऐसा किसी बहुत ऊपर बैठे शिक्षा के नौकरशाह का मानना हो सकता है परन्तु मुझ जैसे शिक्षक का नहीं, जिसका कुछ वास्ता वास्तविक बच्चे से भी है, उसकी रुचियों और स्वाभाविक इच्छाओं से भी है।

अनुशासन का पाठ अनिवार्यतः प्रत्येक विद्यालय में पढ़ाया जाता है - सीधी लाइन में खड़े रहना, कक्षा में अध्यापक के घुसते ही समवेत स्वर में 'गुSSSड मॉर्निंग सSSSर' चिल्लाना, हाथ बाँधकर बातें सुनना, शारीरिक-व्यायाम के समय वही दो-चार रटी-रटाई पी.टी. करना जिसका कि स्वास्थ्य पर क्या अच्छा प्रभाव पड़ता है मैं आज भी नहीं समझ पाया हूँ और अगर पड़ता है तो सभी अध्यापक भी उसे रोज़-

रोज़ क्यों नहीं करते। क्या इससे अध्यापकों की यह धारणा मज़बूत नहीं होती कि वे बच्चों को कुछ सिखा रहे हैं?

यह आलोचना मैं केवल 'संदर्भ' के माध्यम से कर सकता हूँ क्योंकि मेरा विश्वास है कि यह जागरूक और गहरी सोच वाले शिक्षकों और व्यक्तियों के पास पहुँचती है। हालाँकि यही बातें मैं अपने शिक्षक मित्रों से भी करता हूँ परन्तु वे कहीं प्रभाव नहीं छोड़ पातीं क्योंकि ऐसी बातों का सही होते हुए भी अधिकांश शिक्षकों के विचारों के अनुरूप न होने के कारण कोई महत्व नहीं है क्योंकि उसमें वेतन/भत्ते/प्रमोशन/ट्रांसफर की चर्चा नहीं होती। हालाँकि सारे अध्यापक इस सोच के नहीं हैं, कई हैं जो शिक्षा में सही और अच्छी सोच के साथ कार्य कर रहे हैं, परन्तु उनका नौकरशाही में कोई दखल नहीं है और वे बहुत बड़ा बदलाव करने में सक्षम नहीं हैं।

परीक्षा को आधार मानकर शिक्षण और सच्चाई से व्यवहार परिवर्तन न कराकर झूठ, लालच, प्रलोभन, पुरस्कार, अंक और ग्रेड से व्यवहार का मापन करके शिक्षा का एक यांत्रिक ढाँचा बना दिया गया है जिसके मकड़जाल से फिलहाल निकल पाना असम्भव लगता है। मैं इसी उधेड़बुन में हूँ कि शिक्षा के आदर्श जिन्हें हम जाने-अनजाने बच्चों को सिखाते हैं, जैसा आदर्श व्यक्ति हम उसे बनाना चाहते हैं वह क्या केवल डॉक्टर, इंजीनियर, पायलेट या ऑफिसर ही है। इसमें इन्सानियत, जीवन जीने की कला, प्रसन्नता, परिश्रम हम कहाँ सिखा पाए हैं, क्या इस पर एक बहस शिक्षाविदों के बीच नहीं होनी चाहिए?

कमलेश उप्रेती
नारायणनगर, पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड